माध्यमिक शिक्षा और सरकारी दृष्टि

□ श्रीमती सुषमा अरोड़ा
(शोध सहायक, साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर)

बुद्धि एक ऐसा तत्त्व है जिसके कारण मनुष्य को अन्य सब प्राणियों से श्रेष्ठतम समझा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ अन्तर्निहित क्षमताएँ होती हैं, आवश्यकता है उन अन्तर्निहित क्षमताओं को जागृत कर व्यक्ति को उनसे परिचित कराने की, ताकि वह उन क्षमताओं का उचित उपयोग कर प्रगति की ओर अग्रसर हो सके।

राष्ट्र शब्द हमें किसी देश-विशेष की भौगोलिक स्थिति, पर्वत, नदियाँ, मैदान अथवा उसके मानचित्र और भूखण्ड-विशेष का ही अवबोध नहीं कराता, वरन् राष्ट्र शब्द वास्तव में किसी देश-विशेष के निवासियों (नागरिकों) एवं उनकी चेतना का अवबोधक है। किसी देश-विशेष की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, खानपान आदि वहाँ के नागरिकों के जीवन से आवश्यक रूप से जुड़े रहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की बुनियाद वहाँ के नागरिकों के चरित्र पर निर्भर करती है, क्योंकि व्यक्ति-चरित्र से समूह-चरित्र व राष्ट्र-चरित्र का निर्माण होता है। व्यक्ति-चरित्र के अभाव में राष्ट्र की प्रगति की कामना करना भी दुष्कर है। व्यक्ति-चरित्र के निर्माण का कार्य शिक्षा द्वारा किया जाता है।

राजस्थान के राज्यपाल रघुकुलतिलक के शब्दों में "लोकतन्त्र किसी भी देश में तभी टिक सकता है, जब वहाँ के नागरिक उसका अर्थ समझते हों।" और अर्थ समझाने का यह कार्य शिक्षा द्वारा ही संभव है। उनका विचार है कि—"हममें बुद्धि, शक्ति या साधनों की कमी नहीं हैं, शिक्षा व प्रशिक्षण की कमी है।"[1]

सन्त सुकरात के मतानुसार शिक्षा का तात्पर्य संसार के सर्वमान्य विचारों को, जो प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में स्वभावत: निहित होते हैं, प्रकाश में लाना है। एडीसन का कथन है कि जब शिक्षा मानव-मतिष्क पर कार्य करती है तो वह उसके सद्गुणों और पूर्णता को बाहर लाकर व्यक्त कर देती है। फ्रोयबेल का विचार है कि शिक्षा एक प्रक्रिया है जो कि बालकों की अन्त:शक्तियों को बाहर प्रकट करती है। महात्मा गांधी कहते हैं कि शिक्षा से अभिप्राय बालक एवं मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में निहित सर्वोत्तम शक्तियों के प्रकटीकरण से है। रवीन्द्रनाथ टैगौर की मान्यता है कि शिक्षा का अर्थ मस्तिष्क को इस योग्य बनाना है कि वह सत्य की खोज कर सके और उस तथ्य को अपना बनाते हुए उसको व्यक्त कर सके। प्रो० होर्नी की धारणा है कि शिक्षा शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकसित सचेतन मानव के अपने बौद्धिक, उद्वेगात्मक और इच्छात्मक वातावरण से सर्वथा अनुकूलन है। बेसिंग का मत है कि शिक्षा का कार्य व्यक्ति को वातावरण में इस सीमा तक व्यवस्थापित करना है, जिससे व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए महान् सन्तोषजक लाभ प्राप्त हो सके। प्रो० जेम्स के कथनानुसार शिक्षा कार्य-सम्बन्धित अर्जित आदतों का संगठन है जो व्यक्ति को उसके सामाजिक एवं भौतिक वातावरण के योग्य बनाती है। इसी प्रकार बटलर की धारणा है कि शिक्षा

१. शिविरा—दिसम्बर, १९७७, पृ० २६८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रजाति की आध्यात्मिक शक्ति के साथ व्यक्ति का क्रमिक सामंजस्य है। टी रेमण्ट का कहना है कि शिक्षा विकास का वह क्रम है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को शैशवास्था से परिपक्वावस्था तक आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।[1]

निष्कर्षतः शिक्षा मानव-व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास एवं सुदृढ़ चरित्र-निर्माण के साथ-साथ वातावरण के अनुकूल ढलने की क्षमता भी प्रदान करती है।

शिक्षा मानव-जीवन का शुद्धिकरण है—संस्कार है। महावीर ने कहा—"पढमं णाणं तओ दया" अर्थात् सर्वप्रथम ज्ञान और फिर क्रिया। ज्ञान या शिक्षा हमारे सही नेत्र हैं जिनके द्वारा हम अच्छे-बुरे का विवेक कर सकते हैं, जीवन का विकास कर सकते हैं। संसार के सभी उन्नत देशों की उन्नति का मूल उस देश के नागरिकों का शिक्षित होना है।[1]

किसी राष्ट्र की उन्नति का मूल वहाँ की शिक्षित जनता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण पहलू पर वहाँ की सरकार की उपयुक्त दृष्टि हो। स्वतन्त्रता से पूर्व अंग्रेजों द्वारा हमारे देश में जिस शिक्षा की व्यवस्था की गयी, उसका माध्यम अंग्रेजी भाषा थी और शिक्षा का लक्ष्य भारतीयों में से केवल क्लर्क पैदा करना था। उच्च पद अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थे। उस समय सरकारी नौकरी भी केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवकों को ही प्रदान की जाती थी। दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता के पश्चात शिक्षा भारत में सदैव उपेक्षा की वस्तु बनी रही। हमारी शिक्षा-व्यवस्था आज भी उसी ब्रिटिश शिक्षा-व्यवस्था पर आधारित है। अनेक प्रयत्नों के बाद भी हमारी शिक्षा के मूल ढाँचे में परिवर्तन न किया जा सका। सन् १९५० में हमारे संविधान द्वारा यह घोषणा की गयी थी कि आने वाले बीस वर्षों में भारतवर्ष के ६ से १४ वर्ष के सभी बच्चों को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा प्रदान कर दी जायगी, लेकिन आज तक भी हम उस लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाये हैं और अब यह अवधि १५ वर्ष और बढ़ाकर सन् १९८५ तक कर दी गयी है। ६ से १४ तो क्या ६ से ११ वर्ष तक के सभी बालकों को हम स्कूलों में नहीं ला पाये, तथापि कुछ राज्यों जैसे मद्रास व केरल में वर्तमान समय में अनिवार्य रूप से निःशुल्क माध्यमिक शिक्षा प्रदान की जा रही है एवं वहाँ का साक्षरता प्रतिशत भी अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक है। शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को नीति-निर्देशक तत्त्वों में रखा गया जिसे पूर्ण करना सरकार का केवल नैतिक दायित्व होगा।

इस लक्ष्य को पूरा न कर पाने का कारण यह है कि आज भी बहुत से गाँव ऐसे हैं जहाँ विद्यालय न होने के कारण वहाँ के बच्चे शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाते। बहुत से विद्यालय ऐसे हैं जहाँ केवल एक ही अध्यापक है और वही समस्त प्राथमिक कक्षाओं में अध्यापन कार्य करता है। जहाँ विद्यालय हैं भी, उनमें भी बहुत से स्थान दुर्गम होने के कारण वहाँ किसी प्रकार का निरीक्षण नहीं हो पाता। प्राथमिक विद्यालयों में विद्यमान भय व आतंक के कारण प्राथमिक शिक्षा में अपव्यय व अवरोधन की समस्या भी हमारे सम्मुख मुँह बाये खड़ी है। अधिक से अधिक छात्रों को विद्यालय में आने हेतु प्रेरित करने के लिए हमें न केवल निःशुल्क शिक्षा की ही व्यवस्था करनी होगी वरन् अधिक निर्धन गाँव के छात्रों के लिए पाठ्य-पुस्तकों एवं विद्यालयी वेश-भूषा की सुविधा भी प्रदान करनी होगी। विद्यालयों में बहुत से ऐसे बालक भी आते हैं, जिन्हें पूरा भोजन भी उपलब्ध नहीं होता और भूख के कारण वे ठीक से पढ़ाई नहीं कर पाते। कुछ छात्र विद्यालयों में विद्यमान आतंक के भय से बीच में ही स्कूल छोड़ देते है। अतः अपव्यय व अवरोधन की समस्या के समाधान के लिए आवश्यक है कि समुचित निरीक्षण के द्वारा वहाँ के आतंकपूर्ण वातावरण को समाप्त किया जाय, साथ ही विद्यालयों में छात्रों के लिए अल्पाहार की व्यवस्था भी आवश्यक है। यद्यपि सरकार द्वारा प्राथमिक स्कूलों में विद्यार्थियों के लिए अल्पाहार की व्यवस्था की गयी है, लेकिन वह सब उन तक पहुँच ही नहीं पाता है।

---

१. शिक्षा के तात्त्विक सिद्धान्त : शिक्षा की परिभाषा—रामबाबू गुप्त, पृ० ९—१३.

२. पं० उदय जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत ग्रामों का देश है, अतः आवश्यकता है प्राथमिक शिक्षा के ग्रामीण वातावरण के अनुकूल होने की। लेकिन मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करने वाली प्राथमिक शिक्षा ग्रामीण बालकों को उनके कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए व्यावहारिक ज्ञान प्रदान नहीं करती। छुट्टियों की व्यवस्था भी ऐसी है कि वे खेती में कोई सहयोग नहीं कर पाते। गाँवों के अधिकांश बच्चे अपने माता-पिता के साथ खेतों पर कार्य करते हैं और इसी लालच से उन बच्चों को स्कूल नहीं भेजा जाता। यदि सत्रीय व्यवस्था इस प्रकार हो कि उन्हें छुट्टियाँ उसी समय में हों, जबकि खेतों में उनके सहयोग की आवश्यकता है तो अपेक्षाकृत अधिक बालकों को स्कूल तक लाने में सुविधा रहेगी। सन् १९७६ तक प्राथमिक शिक्षा पंचायतों के अधिकार क्षेत्र में रहने के कारण भी उपेक्षित बनी रही।

जहाँ तक माध्यमिक शिक्षा का प्रश्न है वहाँ भी हमारी शिक्षा-व्यवस्था का ढाँचा सम्पूर्ण देश में कभी भी एक समान नहीं रहा, जिसके कारण छात्रों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सरकारी नौकरियों में आये दिन स्थानान्तरण होते रहते हैं और स्थानान्तरण के कारण यदि कोई छात्र अपने माता-पिता के साथ एक राज्य से दूसरे राज्य में चला जाता है, तो कई बार उसका पूरा एक सत्र व्यर्थ ही चला जाता है।

संविधान में सरकार के कार्यों का विभाजन तीन सूचियों में किया गया है। केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्य केन्द्रीय सूची में, राज्य सूची में राज्यों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का विवरण है तथा समवर्ती सूची में वे विषय रखे गये हैं, जिन्हें केन्द्र और राज्य सरकार मिलकर करते हैं। इन विषयों पर केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को सलाह तो दे सकती है लेकिन उसे मानना न मानना राज्य सरकारों की इच्छा पर निर्भर करता है।

केन्द्र शासित प्रदेशों को छोड़कर अन्य सभी राज्यों के शिक्षा सम्बन्धी कार्य सन् १९७६ तक राज्य सूची के अन्तर्गत थे। इसलिए केन्द्र सरकार सदैव शिक्षा के प्रति उदासीन दृष्टिकोण अपनाती रही। शिक्षा व्यवस्था में सुधार के लिए समय-समय पर केन्द्र सरकार द्वारा अनेक आयोग स्थापित किए गए और उन आयोगों ने अध्ययन के पश्चात् अनेक सुझाव भी दिए, लेकिन शिक्षा राज्यों का विषय होने के कारण केन्द्र सरकार उन सुझावों को लागू करने के लिए राज्यों को बाध्य नहीं कर सकी।

सन् १९५२ में डा० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में मुदालियर आयोग का गठन शिक्षा में सुधार हेतु आवश्यक सुझाव देने के लिए किया गया। अपने अध्ययन के पश्चात् इस आयोग ने सन् १९५३ में एक रिपोर्ट पेश की और हाई स्कूल के स्थान पर उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की स्थापना का सुझाव दिया तथा ८+३+३ की शिक्षा-पद्धति का परामर्श दिया, लेकिन इस आयोग के सुझावों को भी सभी राज्यों ने स्वीकार नहीं किया। आज भी कई राज्यों में वही प्राचीन इण्टर पद्धति प्रचलित है। आयोग ने बहु उद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना का भी सुझाव दिया तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि को शिक्षा के साथ जोड़ने की बात कही। लेकिन इस आयोग के सुझावों को जहाँ लागू किया गया वहाँ भी माध्यमिक शिक्षा में कोई सुधार नहीं हो पाया।

सन् १९६४ में डा० डी० एस० कोठारी की अध्यक्षता में कोठारी कमीशन का गठन माध्यमिक शिक्षा में सुधार की दृष्टि से किया गया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट सन् १९६६ में दी, जिसमें १०+२+३ की शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान रखा गया। जिसमें कक्षा १० तक प्रत्येक छात्र सामान्य रूप से सभी विषयों का अध्ययन करेगा और + २ में उसे व्यावसायिक शिक्षा प्रदान की जायेगी। १०+२ अर्थात् हायर सैकण्डरी पास करने के बाद केवल योग्य छात्रों के ही विश्वविद्यालयी शिक्षा में प्रवेश का प्रावधान इस नीति में रखा गया। इस शिक्षा व्यवस्था का यह उद्देश्य रखा गया कि १०+२ तक की शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्रत्येक छात्र स्वतन्त्र रूप से आजीविका कमाने के योग्य हो सके। लेकिन शिक्षा राज्य-सूची में होने के कारण इस आयोग के सुझावों का भी वही हाल हुआ जो पहले होता रहा, अर्थात् इसे केवल कुछ ही राज्यों द्वारा स्वीकार किया गया और जहाँ यह व्यवस्था लागू हुई वहाँ भी इसे सफलता प्राप्त नहीं हुई।

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि स्वयं सरकार भी शिक्षा से सम्बन्धित नीति के बारे में एकमत नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे ही सरकार बदलती है, शिक्षा सम्बन्धी नीति में परिवर्तन कर दिया जाता है। इस प्रकार कोई शिक्षा-नीति लागू भी नही हो पाती और उस पर व्यय किये गये लाखों रुपये बर्बाद हो जाते हैं। सन् १९७६ में शिक्षा को राज्य-सूची से हटाकर समवर्ती सूची में सम्मिलित किया गया, इस डाँवाडोल नीति के कारण शिक्षा की स्थिति निरन्तर दयनीय होती जा रही है।

माध्यमिक शिक्षा की एक विडम्बना यह है कि एक युवक १६ वर्ष की आयु में माध्यमिक शिक्षा पूर्ण कर लेता है, जबकि सरकारी नौकरी प्राप्त करने की न्यूनतम आयु १८ वर्ष रखी गयी है, ऐसी स्थिति में दो वर्ष तक वह छात्र क्या करे ? विवश हो उसे विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना पड़ता है और जब उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटता है तो स्वयं को अत्यन्त असहाय व बेकारी की अवस्था में पाता है। अब भी वह उसी नौकरी को अत्यन्त कठिनाई से पाता है, जो उसे माध्यमिक शिक्षा के बाद मिल जानी चाहिए थी।

हमारी शिक्षा की एक अन्य बड़ी कमी उसका पुस्तकीय होना है। हमारा सारा पाठ्यक्रम केवल पाठ्य-पुस्तकों में सिमटा हुआ है। कीट्स ने अपनी एक कविता में यह विचार व्यक्त किये थे कि अपूर्ण पूर्ण से अच्छा है ताकि हम कुछ पाने का प्रयास करते रहें। लेकिन हमारी पाठ्य-पुस्तकों में उस सामग्री या अन्य स्रोतों का संकेत कहीं भी नहीं मिलता है जहाँ उसके विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सके। ऐसी स्थिति में छात्र पाठ्यपुस्तकों में सिमटे सीमित ज्ञान को पूर्ण मानकर एक भ्रमपूर्ण स्थिति में जीते हैं।

हमारी शिक्षा के बारे में सदैव यह कहा जाता है कि यह केवल सैद्धान्तिक है, व्यवहारिक नहीं। एक शिक्षित व्यक्ति भी उन सिद्धान्तों को जिनका उसने अध्ययन किया है व्यवहार में परिणत नहीं कर पाता है, क्योंकि शिक्षा मन्त्रोच्चारण अथवा शुकपाठ की तरह बनी रही और डिग्रीधारी युवक उसे शुकपाठ की तरह ही गले उतारते गये। आज जब शिक्षा को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की आवश्यकता हमें अनुभव हुई, उसके लिए अनेक योजनाएँ बनायी गयीं, लेकिन उन्हें लागू करने में अनेक सीमाएँ बाधक सिद्ध हुईं।

पहली सीमा थी—संलग्न व्यक्तियों की प्रभाहीनता। सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन व्यक्तियों को पदासीन किया गया, जिनके पास मोटे चमकदार प्रमाण-पत्र तो थे, पर व्यावहारिक अनुभव नहीं थे। ये पदाधिकारी तोता-शैली में सिद्धान्त-पाठ तो कर सकते थे, पर किसी भी सिद्धान्त को आचरण की सही शक्ल नहीं दे सकते थे। दूसरी कमी रही—परिवेश से अपरिचय की। व्यावहारिक नीतियाँ इतनी कल्पनाशील रहीं कि कृषि-प्रधान प्रदेश में संगीत और सिलाई की शिक्षा के केन्द्र बनाती रहीं और औद्योगिक नगरों में कृषि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार करती रहीं।

यही कारण है कि स्वातन्त्र्योपरान्त शिक्षा, जीवन से सम्बद्ध रहने की नाटकीयता प्रदर्शित करते हुए भी हमेशा जीवन से असम्पृक्त रही। वह कागज पर योजनाओं के झण्डे बुलन्द करती रही और अपनी अन्तर्निहित वास्तविकताओं में पराजित होती रही। एक तरफ वह आदर्शों के स्वप्नलोक निर्मित करती रही, दूसरी ओर यथार्थ की खुरदरी जमीन पर पिटती रही। परिणाम यह हुआ कि देश में बेकारी की सुरसा मुँह पसारती गई, प्रतिभा उचित स्थान न पाकर कुण्ठाग्रस्त होती गई और जन-जन में हताशा का माहौल उभरता गया।[1]

शिक्षा-प्रशासन एवं शिक्षा से सम्बन्धित नीति-निर्धारण का कार्य सदैव ऐसे लोगों के हाथों में सौंपा गया, जिनका शिक्षा से कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं था। इसलिए शिक्षा सदैव गलत हाथों का खिलौना मात्र बनकर रह गई। आज भी हम उसी मूल शिक्षा-नीति पर चल रहे हैं, जो हमें ब्रिटिशों द्वारा प्रदान की गई थी। हम अपनी नीतियाँ विदेशों से उधार लेते रहे हैं, जो नीति विदेशों में असफल हो जाती है उन्हें ही हमारे यहाँ प्रयोग के तौर पर

---

१. शिविरा--पत्रिका ; अक्टूबर, १९७७, पृ० १७५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लागू किया जाता है। जबकि आवश्यकता है अपने देश की मूल अनिवार्यताओं को समझकर उनके आधार पर नये सिरे से शिक्षानीति के निर्माण की।

हमारी शिक्षा-नीति में मूल्यांकन का तरीका भी बहुत गलत रखा गया है। वर्ष भर में होने वाली केवल लिखित वार्षिक परीक्षा को ही छात्र की योग्यता व अयोग्यता का आधार माना जाता है, चाहे उसमें छात्र किन्ही तरीकों को अपनाकर अंक प्राप्त कर लें। आन्तरिक मूल्यांकन की व्यवस्था होने पर भी अध्यापकों द्वारा मात्र औपचारिकता पूरी की जाती है, जबकि वास्तव में वर्ष भर के निरीक्षण के आधार पर ही आन्तरिक मूल्यांकन का कार्य पूरा किया जाना चाहिए। मौखिक परीक्षाएँ भी मूल्यांकन का उत्तम तरीका हैं, अत: उन्हें भी परीक्षा में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

हमारी शिक्षा का कोई राष्ट्रीय स्वरूप नहीं है। उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा से सम्बन्धित प्रत्येक राज्य की अपनी योजनाएँ हैं, अपने पाठ्यक्रम हैं। इन योजनाओं और पाठ्यक्रमों में कोई तालमेल भी नहीं है। इस अनिश्चितता और भिन्नता के कारण इस स्तर की शिक्षा की उपेक्षा और दुर्दशा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जबकि होना यह चाहिए था कि राष्ट्रीय जीवन में इसके महत्त्व को समझते हुए, प्रत्येक नागरिक के लिए इस स्तर की अनिवार्य शिक्षा के लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए इसमें एकरूपता, निश्चितता और राष्ट्र निर्माण की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए इसकी राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था की जानी चाहिए थी।[1]

हमारी शिक्षा छात्रों में चरित्र-निर्माण का कार्य नहीं कर पा रही है—शिक्षा पर यह आरोप आये दिन सुनने में आता है। इसका सबसे बड़ा कारण अध्यापकों के बीच विद्यमान वेतनमान का अन्तर है। एक प्राथमिक कक्षा के अध्यापक को जो छात्रों को साँचे की तरह ढालता है, इतना कम वेतन मिलता है कि वह निरन्तर अभावों से टूटता जा रहा है और अपना ध्यान छात्रों की ओर नहीं लगा पाता, दूसरी ओर उच्च शिक्षा के एक प्राध्यापक को जो दिन में केवल दो-तीन घण्टे ही अध्यापन कार्य करता है, इतना अधिक वेतन दिया जाता है कि वह उस धन का दुरुपयोग करते हुए व्यसनों का शिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों ही स्थानों पर छात्रों का चरित्र अधर में रह जाता है, जो कि शिक्षा का प्रमुख कार्य है।

छात्रों के चरित्र-निर्माण में एक बाधक स्थिति राजनीति का शिक्षा में प्रवेश होना भी है, जिसमें स्वयं सरकार का हाथ रहता है। शिक्षकों से अध्यापन कार्य के अतिरिक्त चुनाव के दिनों में मतदाता सूची बनाने, एवं मतदान केन्द्र के निरीक्षण, मतगणना आदि का कार्य भी लिया जाता है। जिससे शिक्षा राजनीति का अड्डा बन जाती है। शिक्षा विभाग द्वारा किए गए अध्यापकों के अधिकांश स्थानान्तरण भी राजनीति से प्रेरित होते हैं, जिससे छात्र एवं शिक्षक दोनों ही राजनीति की चक्की में पिसते रहते हैं। शिक्षा के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है कि शिक्षा जैसे पवित्र कार्य को राजनीति से एकदम अछूता रखा जाए और शिक्षक से अध्यापन के अतिरिक्त और कोई कार्य न लिया जाए।

हमारी शिक्षा-नीति तभी सफल हो हो सकती है जबकि यह हमारे अपने देश के धरातल पर निर्मित हो। हमारी शिक्षा में नैतिकता का अभाव है। यही कारण है कि शिक्षा जैसा पवित्र क्षेत्र हड़तालों, तोड़फोड़ और आरोप-प्रत्यारोपों का केन्द्र बना हुआ है। नैतिक शक्ति की कमी ही इसका सर्वप्रमुख कारण है और इस कमी को दूर करने का दायित्व प्रत्येक राष्ट्र की शिक्षा-व्यवस्था का है। इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा को संस्कृति व नैतिकता से जोड़ा जाए। अत : नैतिक शिक्षा हमारी शिक्षा का एक आवश्यक अंग होनी चाहिए। साथ ही शिक्षा-नीति के निर्माण कार्य में प्रशासकों के अतिरिक्त अध्यापकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए।

---

१. पं० उदय जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org